

## हिन्दी सिनेमा में अनुपस्थित दलित

मनीष कुमार जैसल

पीएच. डी. नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय

वर्धा, महाराष्ट्र

## सारांश

कहते हैं सिनेमा समाज का दर्पण होता है। जो स्थिति समाज की होती है, वही सिनेमा परदे पर दिखा देता है और हम उसे देखकर यह समझ जाते हैं की आज हमारे समाज में क्या हो रहा है। हिंदी सिनेमा ने यूँ तो हर दशक में समाज के ही मुद्दे को अपने परदे पर लाने की कोशिश की है, मगर हम जब बात करते हैं देश के सबसे प्रमुख मुद्दों में से एक दलित मुद्दे कि तो हमारा सिनेमा इस मुद्दे को छूने से आज भी कतराता ही दिखाई पड़ता है। हिंदी सिनेमा ने लगभग अपने समय के समकालीन सभी मुद्दे को बेहतरीन तरीके से सिने परदे पर उतारा है, चाहे वो राजनीति का मुद्दा हो, गरीबी और कुपोषण का मुद्दा हो या चाहे देश में व्याप्त आतंक का मुद्दा हो। लगभग हर मुद्दे पर हिंदी सिनेमा ने बढ चढ कर हिस्सा लिया है और अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। मगर जैसे ही बात दलितों वंचितों की करते हैं तो हिन्दी सिनेमा सिर्फ उसे छू कर ही आगे गुजरा हुआ प्रतीत होता है। हम जानते हैं की दलितों का मुद्दा हमारे देश में सदियों से चला आता रहा है, हमारे देश के दलित सदियों से सवर्णों के अधीन रह कर ही अपना जीवन यापन करते रहे हैं। हमारे देश के आजाद होने के ६८ वें साल में भी दलितों की स्थिति जस की तस बनी हुई है, हालांकि संविधान से दलितो वंचितों को प्रमुख अधिकार दिये गए हैं इसके उपरांत भी देश के दलित अपने आप को मुख्य धारा से जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर पा रहे हैं। आखिर क्या कारण है कि हिन्दी सिनेमा में भी दलितों की स्थिति वैसी ही हो गयी है जैसी समाज में है। क्यों नहीं आज तक हिन्दी सिनेमा ने किसी दलित ज्वलंत मुद्दे को उठाकर पर्दे में दिखाया है। क्या सिनेमाई पर्दा भी सवर्णों के हाथों से चलता है। या पूरा फिल्म उद्योग सवर्ण मानसिकता से ग्रसित है या फिर हिन्दी सिनेमा का दर्शक ऐसे मुद्दे को देखना ही नहीं चाहता। क्यों हिन्दी सिनेमा के पर्दे से दलित और दलित मुद्दा नदारद रहा है। ऐसा नहीं है कि दलित मुद्दों पर फिल्में नहीं बनी है। पर जिस तरह निर्देशकों ने उन विषयों को छू कर अपने को किनारे लगाया है वह अविस्मरणीय है। प्रस्तुत शोध पत्र में हम दलित मुद्दों पर बनी फिल्मों की आलोचनात्मक समीक्षा करेंगे तथा पूरे सिनेमा इतिहास को खंगालते हुए सिनेमाई पर्दे पर दलित और उनके मुद्दे को खोजने की कोशिश करेंगे .....

## प्रस्तावना :

व्यावसायिक भारतीय सिनेमा एकलौता सबसे ताकतवर संचार माध्यम है जो भारतीय समाज को प्रभावित करता है। एक अनुमान के

मुताबिक हर हफ्ते लगभग 12 मिलियन लोग फिल्म देखते हैं। क्योंकि ये रंगीन है, रोमांस, नृत्य और गानों से भरपूर है, यह आपको बहुत आसानी से पलायनवादी, अतिनाटकीयता,

रोमांटिक अथवा शानदार होने की भावना की तरफ ले जा सकता है। लेकिन यदि हम गहराई से इसकी ओर देखेंगे तो यह यह मात्र पलायनवादी अथवा असाधारण दिखने सम्बन्धी नहीं है, बल्कि भारतीय फिल्मों लगातार उन मूल्यों और भावों की अभिव्यक्ति करती है जो इस समाज में मौजूद होते हैं। हिंदी सिनेमा ने देश के बड़े मुद्दों में शुमार दलित मुद्दे को कभी भी गौर से नहीं छुआ है, या यूँ कहें कि सिनेमा ने उसमें कभी कोई रुचि ही नहीं ली। आप दलित मुद्दे पर बनी फिल्म देखेंगे तो पाएंगे कि सिनेमा ने दलित मुद्दे को सिर्फ सतही तौर पर ही छुआ है।

सिनेमा में क्या दिखाया जा रहा है यह महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि कैसे दिखाया जा रहा है यह महत्वपूर्ण है। यूँ तो उँगलियों पर गिनी जा सकने वाली संख्या में ऐसी कई फिल्में हैं जिनका कथानक आधार दलित रहे हैं। दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाला हमारा फिल्म उद्योग देश की सबसे बड़ी आबादी को कैसे नज़रंदाज़ कर सकता है ये सवाल जरूर विचारणीय है।

विदेशी शोधार्थी भी मान रहे बहुजन जीवन से नदारद है हिंदी सिनेमा ...

पोलैंड के शहर क्राकोव स्थित Jagiellonian University में पीएच डी के लिए शोधरत तत्याना पुर्लेई तिरछी स्पेलिंग नामक इंटरनेट लिंक में छपे लेख में बताती है कि सिनेमा के सौ साल के इतिहास में दलितों के बारे में ज्यादा-फिल्में नहीं हैं। शुरू में ऐसा लगा कि गाँधी जी और उनके तरह के दूसरे सुधारकों की मदद से यह विषय लोकप्रिय होगा लेकिन जल्दी ही ऐसी फिल्मों मुख्यधारा के विषय से

बाहर चली गयीं। क्या भारतीय दर्शक ऐसी फिल्मों के लिए तैयार नहीं हैं? जब हम बॉलीवुड फिल्मों की संख्या के बारे में सोचेंगे तो यह देखेंगे कि दलित न सिर्फ जाति के वरीयता क्रम से बाहर हैं बल्कि सिनेमा से भी बाहर हैं। 100 करोड़ से ऊपर की जनसंख्या वाले देश के सिनेमा में बहुजन-जीवन के स्वाभाविक-चित्रण का अभाव चिंताजनक है और इसका एक बड़ा कारण संभवतः यह है कि बहुजनों का बड़ा हिस्सा अभी भी सिनेमा के उपभोक्ता समुदाय में तब्दील नहीं हुआ है।

मेरी नज़र में तो यह तब तक नहीं बदलेगा जब तक उनकी परिस्थितियों को स्वाभाविक तरीके से नहीं पर्दे में नहीं दिखाया जाएगा। अगर हम दलित-समस्या पर ही केन्द्रित रहेंगे और सिर्फ सुधार के आग्रही के बतौर ही दलितों का चित्रण करेंगे तो वे कभी समाज के स्वाभाविक हिस्से की तरह कभी नहीं दिखेंगे।

हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श:-

अगर बॉलीवुड की फिल्मों का अवलोकन करें तो साफ पता चलता है कि किस तरह से फिल्मों में जातीय वर्चस्व गहराई से बैठा हुआ है। हिंदी फिल्मों मीडिया की कल्टीवेशन थ्योरी के अनुसार कैसे बार बार एक ही विचारधारा का संदेश हमारे मस्तिष्क में दूंसती प्रतीत होती है। हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श पर पहली फिल्म “अछूत कन्या” को माना जाता है। हालाँकि इस फिल्म का उद्देश्य ऐसा कुछ भी नहीं था। न ही उसका उद्देश्य किसी का मजाक उड़ाना था और न ही किसी को चिढ़ाना। इसके बाद 1940 में चंदुलाल शाह द्वारा निर्देशित फिल्म “अछूत” आई। इस फिल्म में एक सवर्ण लड़का और एक नीची जाति की लड़की

का प्रेम दिखाया गया है और कैसे पुरानी रुढ़ियों और सामाजिक परिस्थितियों के चलते दोनों अंत में मौत को गले लगा लेते हैं। इस फिल्म का मुख्य उद्देश्य था। इसी के आगे के क्रम में विमल राय द्वारा निर्देशित “सुजाता” फिल्म 1959 में आई हालाँकि समीक्षक मानते हैं कि यह फिल्म अछूत कन्या और अछूत का ही परिष्कृत रूप मात्र ही बनकर रह गयी।

हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श का मुद्दा तब फिर से जोर पकड़ने लगा जब हिंदी सिनेमा के दिग्गज फिल्मकारों में शुमार सत्यजीत राय ने प्रेमचंद की एक कहानी “सद्गति” पर आधारित एक फिल्म बनाई और उसका नाम भी सद्गति ही रखा। हालाँकि सत्यजीत राय ने पहले भी कहानी पर आधारित फिल्में बनाई हैं मगर उन कहानियों को वो अपनी कल्पना के सहयोग से एक दूसरा ही रूप दे देते थे किन्तु सद्गति में उन्होंने इस प्रकार का ज्यादा कोई प्रयोग नहीं किया, कहानी को जस कि तस परदे पर उतारने कि भरपूर कोशिश की। हाँ कहानी को फिल्म में बदलने कि प्रक्रिया में जो कुछ जोड़ घटाना करना पड़ा उसे सत्यजीत राय ने बखूबी अंजाम दिया।

सद्गति की कथा संछेप में इस प्रकार है। दुखी (ओम पूरी) और झुरिया (स्मिता पाटिल) एक गरीब और अछूत दम्पति हैं। इतने गरीब कि अपनी बेटी के लगन का शुभ मुहूर्त निकालने के लिए पंडित घासीराम (मोहन अगासे) को दक्षिणा देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है और अपने जैसे अछूत के वहाँ पंडित को बुलाने कि हिम्मत भी उसके पास नहीं है। फिर भी दुखी हिम्मत करके पंडित घासीराम के वहाँ अपनी बेटी कि सगाई का शुभ मुहूर्त निकलवाने के लिए जाता है। बिमारी से उठे और भूखे पेट

दुखी पंडित के वहाँ पहुँचता है तो पंडित उससे झाड़ू लगाने, गोबर से लीपने और एक कुल्हाड़ी देकर उससे एक लकड़ी के विशालकाय गठ्ठर को काटने को कहता है। लाचार दुखी पंडित घासीराम का सारा काम करने को तैयार हो जाता है और लकड़ी का गठ्ठर काटने लग जाता है। बिमारी और भूख से लड़ रहे दुखी को सूरज की कड़ी धूप और कुंद लकड़ी की धार से भी लड़ना पड़ रहा था उसे किसी भी तरह इस लकड़ी को काटना था जिससे पंडित घासीराम उसकी बेटी कि सगाई का शुभ मुहूर्त निकाल दें। मगर इस लड़ाई में अंततः कुंद कुल्हाड़ी और सूरज देवता कि कड़ी धूप ने बीमार और भूख से तड़प रहे दुखी को हरा ही दिया, दुखी वहीं गिर पड़ा और अपनी अंतिम साँसे लेने लगा। पुलिस के डर से पंडित घासीराम रात के ही समय दुखी के पैर में रस्सी का फंदा डालकर उसे घसीटते हुए श्मशान तक ले जाते हैं। दुखी के शरीर में अब कोई हलचल नहीं हो रही थी। पंडित घासीराम उसे वहाँ छोड़कर वापस आ जाते हैं और उस जगह को जहाँ दुखी कि लाश पड़ी थी गंगाजल से पवित्र करते हैं। इस फिल्म में सत्यजीत राय ने जिस प्रकार से एक अछूत पर एक ब्राम्हण का जुल्म दिखाया है, वह दरअसल उनकी कल्पना नहीं थी बल्कि अपने समाज की एक बहुत बड़ी हकीकत थी जिसे उन्होंने परदे पर दिखाने का अदम्य साहस किया था। सत्यजीत राय के अलावा भी कुछ निर्देशकों ने इस विषय पर फिल्म बनाने की हिम्मत जुटाई मगर इतनी सफलता अन्य किसी निर्देशक को नहीं मिली जितनी सत्यजीत राय को मिली। इस लिहाज से देखा जाए तो समाज और साहित्य में जैसा भेदभाव दलितों के साथ हुआ वहीं फिल्मों में भी बदस्तूर जारी रहा।

इसके अलावा जिस फिल्म में दलित मुद्दे को इतनी इमानदारी से उठाया गया वह फिल्म थी 1995 में आई शेखर कपूर की “बैंडेड क्वीन” हालाँकि इस फिल्म को जितना दलित मुद्दे के लिए बताया जा सकता है उतना ही इसे महिला के मुद्दे के लिए भी बताया जा सकता है। अतः इस पर गहन चर्चा सिर्फ दलित मुद्दे के उद्देश्य से नहीं की जा सकती। इन फिल्मों के अलावा हिंदी सिनेमा ने अपने दस दशकों में छुट पूट तौर पर कई फिल्मों में दलित मुद्दे पर बनाई मगर उनको न तो सरकार ने गंभीरता से लिया न ही दर्शकों ने और अंतिम के कुछ दशकों को देखें तो हिंदी सिनेमा को व्यवसाय का ऐसा चस्का लगा कि वो अब ऐसे मुद्दे पर कोई फिल्म बनाना ही नहीं चाहती है। वो तो बस नाच गाने और मनोरंजन से भरपूर फिल्म बना कर ही पैसे कमाना चाहती है।

हाल के वर्षों में यदि हम हिंदी सिनेमा का अवलोकन करें तो दलित मुद्दे पर बनी आरक्षण फिल्म ने दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने कि भरपूर कोशिश कि मगर निर्देशक प्रकाश झा ने दलित मुद्दे को इतनी सतही तौर पर छुआ कि यह दर्शकों तक पहुँच ही नहीं पायी। वहीं एक और फिल्म का जिक्र मैं यहाँ करना चाहूँगा “बन्दुक” जिसका नायक एक दलित है, जनवरी 2013 में आई यह फिल्म एक विद्रोही दलित कि कहानी कहती हुई नजर आती है। इस फिल्म का नायक एक दलित परिवार में पला बड़ा होता है। जिसकी वजह उसे तरह तरह कि यातनाएं झेलनी पड़ती है। मगर वह इससे हार न मानकर समाज में अपनी पावर बनाने के लिए बन्दूक उठा लेता है और इसमें उसका साथ एक बड़े मंत्री का शूटर देता है। इस फिल्म में भी दलितों कि स्थिति

को ठीक ठीक दिखाने कि पूरी कोशिश तो कि गयी है, मगर ना जाने किस डर से इसको यथार्थ से हटाकर पूर्णतया कल्पना के भरोसे पर छोड़ दिया गया है। जिसकी वजह से दर्शकों को समाज में चल रही दलितों कि स्थिति पर भरोसा ही नहीं हो पा रहा है।

आमिर खान निर्देशित फिल्म पीपली लाइव ने भी एक साथ कई सवाल खड़े किये पर जो सवाल सबसे महत्वपूर्ण था जिसको नज़रंदाज़ किया गया वह थी नत्था की जाति। क्या यह सत्य नहीं है कि इस देश के गरीब किसानों की श्रेणी में अधिकतर वे ही समुदाय आते हैं जिन्हें हम दलित के नाम से जानते हैं। जरा गौर करें तो पाएंगे की फिल्म में नत्था जब सबसे पहली बार गाँव के नेता से आर्थिक मदद मांगने जाता है तो उस नेता का नाम भाई ठाकुर होता है ये नाम कुछ और भी हो सकता था।

सवर्णों का ही रहा है अब तक का सिनेमा ...

फिल्मों के नाम से ही पता पड़ता है कि सवर्ण मानसिकता की गुलामी से हमारा हिंदी सिनेमा भी बाहर नहीं निकला है। अब चाहे तो इन नामों को ही देख लें। मि.सिंह vs मिसेज मितल (२०१०), मितल v/s मितल (२०१०), रोकेट सिंह सेल्स मैन ऑफ दा इयर (२००९), सिंह इस किंग (२००८), मंगल पांडे (२००५), भाई ठाकुर (२०००), अर्जुन पंडित (१९७६, १९९९) क्षत्रिय (१९९३), राजपूत (१९८२), जस्टिस चौधरी (१९८३), पंडित और पठान (१९७७) मिस्टर एंड मिसेज अय्यर, सूर्यवंशम, ये कुछ ऐसे नाम वाली फिल्मों हैं जो भारतीय हिंदी सिनेमा के निर्देशकों के दिमाग में चल क्या रहा है उसे दर्शाती है। मुकुल श्रीवास्तव अपने ब्लॉग मुकुल का मीडिया में लिखे लेख में कहते हैं की

चलिए सृजनात्मक अभिव्यक्ति के नाम पर इन सारे नामों को स्वीकार कर लिया जाए फिर भी क्या कारण है कि दलित ,दुसाध ,मंडल पासवान जैसी दलित जातियों के नाम पर फिल्म नहीं बनती क्या दलित हमारे समाज का हिस्सा नहीं हैं , अगर हैं तो वो फिल्मों में क्यों नहीं दिखते और अगर दिखते भी हैं तो हमेशा की तरह पीड़ित सताए हुए इसका क्या अर्थ निकाला जाए | मेरी अपनी नज़र में तो उन्हें सिर्फ एक वोट बैंक के रूप में आज तक देखा गया है जो सरकारों की तकदीर तो बना बिगाड़ सकते हैं पर एक औडिऐंस के रूप में उनकी इच्छाओं , अपेक्षाओं और जरूरतों को महत्व नहीं दिया जा रहा है |

कहते हैं सिनेमा बदल रहा है पर दलित तो अब भी कही दिखते ही नहीं.....

डिजिटल इंडिया के इस युग में प्रौद्योगिकी से शायद ही कोई अछूता होगा | हिंदी सिनेमा में नयी तकनीक तेजी से आ रही है, फिल्मों के डिजिटल प्रिंट भी धड़ा धड़ रिलीज हो रहे हैं | रोज नए मल्टीप्लेक्स, सिनेप्लेक्स, आईनॉक्स आदि खुल रहे हैं, सिनेमा तो बदल रहा है पर एक चीज जो अभी तक नहीं बदल रही है, वह है सिनेमा का जातिगत स्वरूप.....

अपने आप को विश्व का सबसे प्रगतिशील कहने वाला मुंबई फिल्म उद्योग हमेशा सवर्णों पर ही क्यों मेहरबान रहा है | फिल्मों की दुनिया में कुछ परिवारों का ही राज चलता है उसके बाद अगर किसी के लिए जगह बचती है तो वो भद्र कुलीन सवर्ण जातियों के लोग ही होते हैं | यहाँ तक की फिल्म के कथानक में भी दलित पात्रों को विकसित होने का पूरा मौका नहीं दिया जाता उन्हें जिंदगी में जो कुछ भी हासिल हो

रहा है इसका सवाल उठाने वाला भी शायद अब कोई नहीं हैं | आजादी के बाद सोचिये कितने दलित अभिनेता फिल्म में आये हैं या उन्हें मौके मिले हैं इस पर भी गौर फरमाने की जरूरत है वरना संविधान में दिये गए अधिकारों की तरह हिंदी सिनेमा में भी दलित कहीं अपने आरक्षण की मांग न उठाने लगे |

संवादों में भी झलकता है सवर्ण प्रेम :

भारतीय सिनेमा के १०० वर्षों के इतिहास में अगर झांक कर देखा जाये तो यह पता चलता है रामायण और महाभारत ही हमारी फिल्मों के कथानक का श्रोत रहे हैं जिसका मूल आधार ही चतुर वर्ण व्यवस्था को कायम रख इनका महिमा मंडन करना रहा है | मुकुल श्रीवास्तव कथा देश, मासिक पत्रिका के मीडिया वार्षिकी अंक में छपे लेख में लिखते हैं कि “इसका अर्थ यह भी नहीं कि फ़िल्में जाति प्रथा के प्रति कोई दृष्टिकोण पेश नहीं करती | सतही तौर पर हिंदी फ़िल्में उंच नीच के भेद को अस्वीकारती नज़र आती हैं |

हिंदी सिनेमा के संवादों में भी किस तरह का सवर्ण प्रेम दिखता है वो भी देखिये..... ठाकुर साहब हम गरीब हैं तो क्या हमारी भी इज्जत है , हम ठाकुर हैं जान दे देंगे लेकिन किसी के सामने सर नहीं झुकायेंगे, ब्राह्मण की संतान होकर तूने यह कुकर्म किया ,एक सच्चा राजपूत ही ऐसा कर सकता है आदि . ऐसा लगता है इस पूरे समाज में सिर्फ सवर्ण ही पाक साफ है दलित तो एक महामारी है | हा हिंदी सिनेमा ने यहाँ थोड़ा ध्यान जरूर दिया है की हिंदी फ़िल्में जातियों का उल्लेख किया बिना ही उच्च वर्ण की श्रेष्ठता और उसके दृष्टिकोण को स्वीकारती है |

हिन्दी सिनेमा परिवार से दलित नदारद है .....

कपूर खानदान, खान परिवार, बच्चन फैमिली इत्यादि की तरह क्या कोई दलित फैमिली बॉलीवुड में अपना योगदान दे रही है यह सोचनीय और जिज्ञासु प्रश्न है ??

क्या बेंडेड क्वीन वाली सीमा बिस्वास में योग्यता नहीं थी या रघुवीर और राजपाल यादव में नहीं है। इन तीन नामों के अलावा समकालीन हिंदी सिनेमा में किसी दलित अभिनेता या अभिनेत्री के बारे में शायद ही कोई जानता होगा। अन्य कलात्मक व्यवसाय की तरह यहाँ भी जाति का ही राज चलता दिख रहा है। किसी की तीसरी पीढ़ी यहाँ काम कर रही है और किसी की चौथी और इस पीढ़ी गत व्यवसाय में किसी भी दलित का प्रवेश निषेध सा ही है।

**निष्कर्ष :**

हम यह कह सकते हैं कि हिंदी सिनेमा ने दलित मुद्दे पर कभी गौर से देखा ही नहीं और कोई सार्थक फिल्म नहीं बनाई या यूँ कहें कि आज भी हिंदी सिनेमा में जिस प्रकार सवर्णों का बोलबाला है, वो दलित मुद्दे को छूना ही नहीं चाहते। दलितों को केंद्र में रखकर फिल्म सन्दर्भ सूची :

1. भारतीय सिनेमा का अन्न:करण (विनोद दास)
2. <http://timesofindia.indiatimes.com/entertainment/hindi/movie-reviews/Bandook/movie-review/18076061.cms>
3. [http://jantakapaksh.blogspot.in/2013/05/blog-post\\_5.html](http://jantakapaksh.blogspot.in/2013/05/blog-post_5.html)
4. [http://mukulmedia.blogspot.in/2011/04/blog-post.html#.Va4HJ\\_mqqko](http://mukulmedia.blogspot.in/2011/04/blog-post.html#.Va4HJ_mqqko)
5. सिनेमा और समाज(१९९३) :विजय अग्रवाल ,सत्साहित्य प्रकाशन ,दिल्ली पृष्ठ संख्या ११
6. मीडिया और संस्कृति (२००८):संपादक ,रूप चंद्र गौतम ,श्री नटराज प्रकाशन दिल्ली पृष्ठ संख्या २८

बनाई जा सकती है पर वो हमारे फिल्मकारों की सर्जनात्मक प्राथमिकता में नहीं है तभी तो आप देखिये जहाँ हमारा हीरो अपने आपको कभी राहुल बजाज बताता है तो कभी सिंहानिया , कभी गुप्ता जी तो कभी लाला जी ,विजय और राज महरोत्रा को तो बिल्कुल भूला नहीं जा सकता। मेरा यह मानना है कि जब तक हिंदी सिनेमा दलितों के मुद्दे को अछूत मानता रहेगा तब तक देश में दलित विमर्श सिर्फ एक मजाक की तरह ही माना जाता रहेगा। ऊपर बताए चंद्र नाम एक बानगी हैं कि फिल्मों में जाति कितनी महत्वपूर्ण है। पिछले दो दशक की समकालीन फिल्मों में सिर्फ एक फिल्म चाची ४२० ही ऐसी है जिसके नायक का नाम राजेश पासवान है यदि हम आज यह कहें कि हमारे दलित अपने आपको मुख्य धारा से क्यों नहीं जोड़ पा रहे हैं तो हिंदी सिनेमा भी एक मुख्य कारण बन कर उभर आएगा। दलित पात्र हमेशा पीड़ित ,शोषित और न्याय की गुहार के लिए दर दर भटकता दिखेगा उसका कल्याण भी किसी सवर्ण के ही हाथों होता है। “सवाल दलितों पर फिल्में बनाने का नहीं है, सवाल ये है की वे जब परदे पर उतारे जाते हैं तो किस तरह का चरित्र उनमें उभारा जाता है।

7. वर्ण व्यवस्था एक वितरण व्यवस्था (२००३):एच एल दुसाध ,सम्यक प्रकाशन ,नयी दिल्ली पृष्ठ संख्या ६७
8. समकालीन सृजन (हिंदी सिनेमा का सच १९९७):संपादक मृत्युंजय कलकत्ता पृष्ठ संख्या २५
9. लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ (२००१):जवरीमल्ल परख ,अनामिका पब्लिशर्स नयी दिल्ली पृष्ठ संख्या ११४
10. सिनेमा और समाज(१९९३) :विजय अग्रवाल ,सत्साहित्य प्रकाशन ,दिल्ली पृष्ठ संख्या २१
11. N. Ghosh, Ashok Kumar. His Life and Times, New Delhi 1995, p. 67-68.
12. A. Chowdhury, Dev Anand. Dashing Debonair, New Delhi, 2004, p. 17 18.
13. M. Bose, Bollywood. A History, Gloucestershire, 2006, p. 205.
14. [http://aadivasiman.blogspot.in/2014/04/blog-post\\_7967.html](http://aadivasiman.blogspot.in/2014/04/blog-post_7967.html)
15. <http://onlinehindi.blogspot.in/2010/06/22/sheeba-react-in-bollywood-behaviour-with-dalit-character/>
16. <http://timesofindia.indiatimes.com/india/Dalits-strive-to-make-it-in-Hindi-Bhojpuri-films/articleshow/2929497.cms>
17. <http://mohallalive.com/2010/06/22/sheeba-react-in-bollywood-behaviour-with-dalit-character/>
18. <http://www.janatantra.com/news/2010/07/06/sheeba-aslam-fehami-on-bollywood-dalit-and-anurag/>
19. बहुवचन, अंक 39 अक्टूबर दिसंबर 2013
20. वर्तमान साहित्य , सिनेमा विशेषांक – 2002
21. हंस पत्रिका,हिंदी सिनेमा के सौ साल,- फरवरी 2013
22. [www.hindinest.com](http://www.hindinest.com)
23. [www.dainikjagran.com](http://www.dainikjagran.com)
24. [www.hindinest.com](http://www.hindinest.com)
25. [www.raaga.com](http://www.raaga.com)
26. [www.boxofficeindia.com](http://www.boxofficeindia.com)
27. [www.movieindustrymarketing.com](http://www.movieindustrymarketing.com)
28. [www.Onlinehindijournal.blogspot.in/2013/11/blog-post\\_14.html](http://www.Onlinehindijournal.blogspot.in/2013/11/blog-post_14.html)